॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः
(चौदहवाँ अध्याय)

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—

ज्ञानानाम्	=सम्पूर्ण ज्ञानोंमें	**प्रवक्ष्यामि**	=कहूँगा,	**इतः**	=इस संसारसे (मुक्त होकर)
उत्तमम्	=उत्तम (और)	**यत्**	=जिसको	**पराम्**	=परम
परम्	=श्रेष्ठ	**ज्ञात्वा**	=जानकर	**सिद्धिम्**	=सिद्धिको
ज्ञानम्	=ज्ञानको (मैं)	**सर्वे**	=सब-के-सब	**गताः**	=प्राप्त हो गये हैं।
भूयः	=फिर	**मुनयः**	=मुनिलोग		

विशेष भाव—(यह चौदहवाँ अध्याय तेरहवें अध्यायका ही परिशिष्ट है।) क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागका ज्ञान सम्पूर्ण लौकिक-पारलौकिक ज्ञानोंसे उत्तम तथा सर्वोत्कृष्ट है। यह ज्ञान परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका रामबाण उपाय है, इसलिये इस ज्ञानको प्राप्त करनेवाले सब-के-सब साधक परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाते अर्थात् मुक्त हो जाते हैं।

'**ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्**' पदोंका तात्पर्य है—सात्त्विक, राजस और तामस ज्ञानसे तथा लौकिक-पारलौकिक ज्ञानसे भी उत्तम, आखिरी ज्ञान। इस ज्ञानके सिवाय दूसरा कोई ज्ञान परमसिद्धि प्राप्त नहीं करा सकता। एक परमात्मतत्त्वके सिवाय कुछ भी नहीं है—ऐसा अनुभव हो जाना ही परमसिद्धिकी प्राप्ति है। तात्पर्य है कि परमसिद्धि प्राप्त होनेपर क्रिया तथा पदार्थका अत्यन्त अभाव हो जाता है और एक चिन्मय सत्ताके सिवाय कोई जड़ वस्तु रहती ही नहीं, जो कि वास्तवमें है।

~~~

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ २॥

इदम्	=इस	**साधर्म्यम्**	=सधर्मताको	**न, उपजायन्ते**	= पैदा नहीं होते
ज्ञानम्	=ज्ञानका	**आगताः**	=प्राप्त हो गये हैं,	**च**	=और
उपाश्रित्य	=आश्रय लेकर	**सर्गे**	=(वे) महासर्गमें	**प्रलये**	=महाप्रलयमें भी
मम	=(जो मनुष्य) मेरी	**अपि**	=भी	**न, व्यथन्ति**	=व्यथित नहीं होते।

विशेष भाव—कारणशरीरके सम्बन्धसे 'निर्विकल्प स्थिति' होती है और कारणशरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर (स्वयंमें) 'निर्विकल्प बोध' होता है। निर्विकल्प स्थिति तो सविकल्पमें बदल जाती है, पर निर्विकल्प बोध सविकल्पमें नहीं बदलता। तात्पर्य है कि निर्विकल्प स्थितिमें परिवर्तन होता है, पर निर्विकल्प बोधमें कभी परिवर्तन नहीं होता, वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। इस बातको यहाँ '**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च**' पदोंसे कहा गया है।

महासर्ग और महाप्रलय प्रकृतिमें होते हैं। प्रकृतिसे अतीत तत्त्व (परमात्मा) की प्राप्ति होनेपर महासर्ग और महाप्रलयका कोई असर नहीं पड़ता; क्योंकि प्रकृतिसे सम्बन्ध ही नहीं रहता। प्रकृतिसे सम्बन्ध न रहनेको 'आत्यन्तिक
~~~

प्रलय' भी कहा गया है। तात्पर्य है कि प्रकृतिके कार्य शरीरको पकड़नेसे मनुष्य परतन्त्र हो जाता है*, जन्म-मरणमें पड़ जाता है; परन्तु प्रकृतिके कार्यसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर वह स्वतन्त्र हो जाता है, निरपेक्ष जीवन हो जाता है, जन्म-मरणसे सदाके लिये छूट जाता है।

'**मम साधर्म्यमागताः**' पदोंका तात्पर्य है कि जैसे परमात्मा सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हैं, ऐसे ही उनको प्राप्त होनेवाले ज्ञानी महापुरुष भी सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हो जाते हैं।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ ३॥

भारत	=हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!	**योनिः**	=उत्पत्ति-स्थान है (और)	**दधामि**	=स्थापन करता हूँ।
मम	=मेरी	**अहम्**	=मैं	**ततः**	=उससे
महत्, ब्रह्म	=मूल प्रकृति तो	**तस्मिन्**	= उसमें	**सर्वभूतानाम्**	= सम्पूर्ण प्राणियोंकी
		गर्भम्	=जीवरूप गर्भका	**सम्भवः**	=उत्पत्ति
				भवति	=होती है।

विशेष भाव—भगवान्‌के कथनका तात्पर्य है कि जन्म-मरणमें पड़ा हुआ होनेपर भी जीव मेरा ही अंश है। उसकी सधर्मता, एकता मेरे साथ है, शरीरके साथ नहीं।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ ४॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीनन्दन!	**सम्भवन्ति**	=पैदा होते हैं,	**अहम्**	=मैं
सर्वयोनिषु	=सम्पूर्ण योनियोंमें	**तासाम्**	=उन सबकी	**बीजप्रदः**	=बीज-स्थापन करनेवाला
याः	=(प्राणियोंके) जितने	**महत्, ब्रह्म**	=मूल प्रकृति तो		
मूर्तयः	=शरीर	**योनिः**	=माता है (और)	**पिता**	=पिता हूँ।

विशेष भाव—चौरासी लाख योनियाँ, देवता, पितर, गन्धर्व, भूत-प्रेत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस, बालग्रह, स्थावर-जंगम, जलचर-थलचर-नभचर, जरायुज-अण्डज-उद्भिज्ज-स्वेदज आदि सभी '**सर्वयोनिषु**' पदके अन्तर्गत लेने चाहिये। इसी बातको सातवें अध्यायके छठे श्लोकमें '**एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय**' पदोंसे और तेरहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें '**यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्**' पदोंसे कहा गया है।

यहाँ 'मूर्ति' शब्दका अर्थ है—शरीर। इसके अन्तर्गत मूर्त-अमूर्त, व्यक्त-अव्यक्त दोनों शरीर लेने चाहिये। पृथ्वी, जल और अग्नि मूर्त हैं। वायु और आकाश अमूर्त हैं। वायुप्रधान शरीर होनेसे भूत-प्रेत-पिशाच भी अमूर्त हैं।

भगवान्‌ने पहले-दूसरे श्लोकोंमें बताया कि प्रकृतिका सम्बन्ध न रहे तो जन्म-मरण नहीं होता और तीसरे-चौथे श्लोकोंमें बताया कि प्रकृतिका सम्बन्ध रहनेसे जन्म-मरण होता है। इसी (तीसरे-चौथे श्लोकोंकी) बातको आगे पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतक विस्तारसे कहा है।

* '**कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः**' (३।५)
'**अवशं प्रकृतेर्वशात्**' (९।८)
'**रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे**' (८।१९)

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ ५॥

महाबाहो	=हे महाबाहो!
प्रकृतिसम्भवाः	= प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले
सत्त्वम्	=सत्त्व,
रजः	=रज (और)
तमः	=तम
इति	=—ये (तीनों)
गुणाः	=गुण
अव्ययम्	=अविनाशी
देहिनम्	=देही (जीवात्मा)को
देहे	=देहमें
निबध्नन्ति	=बाँध देते हैं।

विशेष भाव—प्रकृतिसे पैदा होनेके कारण सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृति-विभागमें ही हैं। परन्तु प्रकृतिके कार्य शरीरसे अपना सम्बन्ध ('मैं' और 'मेरा') मान लेनेके कारण ये गुण अविनाशी चेतनको नाशवान् जड़ शरीरमें बाँध देते हैं अर्थात् 'मैं शरीर हूँ और शरीर मेरा है'—ऐसा देहाभिमान पैदा कर देते हैं। तात्पर्य है कि सभी विकार प्रकृतिके सम्बन्धसे पैदा होते हैं। सत्तामात्र स्वरूपमें कोई भी विकार नहीं है—**'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'** (बृहदारण्यक० ४। ३। १५), **'देहेऽस्मिन्पुरुषः परः'** (गीता १३। २२)। विकारोंके कारण ही जन्म-मरण होता है।

वास्तवमें गुण जीवको नहीं बाँधते, प्रत्युत जीव ही उनका संग करके बँध जाता है (गीता १३। २१)। अगर गुण बाँधनेवाले होते तो गुणोंके रहते हुए कोई उनसे छूट सकता ही नहीं, जीवन्मुक्त हो सकता ही नहीं!

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ ६॥

अनघ	=हे पापरहित अर्जुन!
तत्र	=उन गुणोंमें
सत्त्वम्	=सत्त्वगुण
निर्मलत्वात्	=निर्मल (स्वच्छ) होनेके कारण
प्रकाशकम्	=प्रकाशक (और)
अनामयम्	=निर्विकार है।
सुखसङ्गेन	=(वह) सुखकी आसक्तिसे
च	=और
ज्ञानसङ्गेन	=ज्ञानकी आसक्तिसे
बध्नाति	=(देहीको) बाँधता है।

विशेष भाव—यहाँ भगवान्‌ने सत्त्वगुणको अनामय (निर्विकार) बताया है—यह सत्त्वगुणकी विलक्षणता है। कारण कि सत्त्वगुण गुणातीत होनेके बहुत नजदीक है। यद्यपि सत्त्वगुण निर्विकार है, पर संगके कारण वह विकारी हो जाता है—**'सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ'**; क्योंकि संग रजोगुणका स्वरूप है—**'रजो रागात्मकं विद्धि'** (गीता १४। ७)। सुख और ज्ञान बाधक नहीं हैं, प्रत्युत उनका संग बाधक है। संग है—उनको अपना मान लेना। वास्तवमें सत्त्वगुण अपना है ही नहीं, वह तो प्रकृतिका है।

मनुष्यमें रजोगुणकी मुख्यता रहती है—**'रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते'** (१४। १५), **'मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः'** (१४। १८)। अतः जबतक संग रहता है, तबतक मुक्ति नहीं होती; क्योंकि स्वरूप असंग है।

भगवान्‌ने सत्त्वगुणको भी अनामय कहा है और परमपदको भी अनामय कहा है—**'पदं गच्छन्त्यनामयम्'** (२। ५१)। इससे यह समझना चाहिये कि सत्त्वगुण तो सापेक्ष अनामय है और परमपद निरपेक्ष अनामय है।

तीनों गुण प्रकृतिजन्य होते हुए भी रजोगुण तृष्णा तथा आसक्तिसे पैदा होनेवाला और तमोगुण अज्ञानसे पैदा होनेवाला है (१४। ७-८); परन्तु सत्त्वगुण केवल प्रकृतिजन्य है। तात्पर्य है कि सत्त्वगुण प्रकृतिजन्य तो है, पर

किसी विकारसे जन्य नहीं है। इसलिये इसको 'अनामय' कहा गया है।

सात्त्विक सुख और सात्त्विक ज्ञान भी स्वयंके नहीं हैं, प्रत्युत प्रकृतिजन्य होनेसे 'पर' के हैं अर्थात् पराधीन हैं। इनमें पराधीनताका सुख है, अपने स्वरूपका सुख नहीं है।

सात्त्विक ज्ञान और तत्त्वज्ञानमें अन्तर—सात्त्विक ज्ञानमें तो 'मैं ज्ञानी हूँ' यह संग है, पर तत्त्वज्ञान सर्वथा असंग है अर्थात् तत्त्वज्ञान होनेपर ज्ञान रहता है, पर 'मैं ज्ञानी हूँ'—यह (ज्ञानी) नहीं रहता। सात्त्विक ज्ञानमें द्रष्टा रहता है और अपनेमें विशेषताका भान होता है; परन्तु तत्त्वज्ञानमें कोई द्रष्टा नहीं रहता और अपनेमें कोई कमी भी नहीं रहती तथा विशेषताका भान भी नहीं होता; क्योंकि व्यक्तित्व नहीं रहता। अपनेमें विशेषताका अनुभव होना ही संग है। विशेषताका अनुभव 'मैं ज्ञानी हूँ'—ऐसा स्वीकार करनेसे होता है। तत्त्वज्ञान होनेपर निजानन्दका अनुभव होता है। तेरहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें सात्त्विक ज्ञानका और अट्ठाईसवें श्लोकमें तत्त्वज्ञानका वर्णन हुआ है।

~~~

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीनन्दन!	**रजः**	=रजोगुणको (तुम)	**कर्मसङ्गेन**	=कर्मोंकी आसक्तिसे
तृष्णासङ्गसमुद्भवम्	= तृष्णा और आसक्तिको पैदा करनेवाले	**रागात्मकम्**	=रागस्वरूप	**देहिनम्**	=देही (जीवात्मा) को
		विद्धि	=समझो।		
		तत्	=वह	**निबध्नाति**	=बाँधता है।

विशेष भाव—रजोगुण कर्मोंके संगसे मनुष्यको बाँधता है। अतः सात्त्विक कर्म भी संग होनेसे बाँधनेवाले हो जाते हैं। अगर संग न हो तो कर्म बन्धनकारक नहीं होते (गीता १८। १७)। इसलिये कर्मयोगसे मुक्ति हो जाती है; क्योंकि कर्मोंका और उनके फलका संग न होनेसे ही कर्मयोग होता है (गीता ६। ४)।

~~~

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ ८॥

तु	=और	**तमः**	=तमोगुणको (तुम)	**प्रमादालस्यनिद्राभिः**	=प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा
भारत	=हे भरतवंशी अर्जुन!	**अज्ञानजम्**	=अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला	**निबध्नाति**	=(देहके साथ अपना सम्बन्ध माननेवालों-को) बाँधता है।
सर्वदेहिनाम्	= सम्पूर्ण देहधारियोंको	**विद्धि**	=समझो।		
मोहनम्	=मोहित करनेवाले	**तत्**	=वह		

~~~

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥ ९॥
~~~

भारत	=हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!	**कर्मणि**	=कर्ममें लगाकर (मनुष्यपर)	**आवृत्य**	=ढककर
		सञ्जयति	=विजय करता है।	**उत**	=एवं
सत्त्वम्	=सत्त्वगुण	**तु**	=परन्तु	**प्रमादे**	=प्रमादमें लगाकर (मनुष्यपर)
सुखे	=सुखमें (और)	**तमः**	=तमोगुण		
रजः	=रजोगुण	**ज्ञानम्**	=ज्ञानको	**सञ्जयति**	=विजय करता है।

विशेष भाव—सत्त्वगुण केवल सुख होनेपर विजय नहीं करता, प्रत्युत सुखका संग होनेपर विजय करता है—'**सुखसङ्गेन बध्नाति**' (गीता १४। ६)। इसी तरह रजोगुण भी कर्मका संग होनेपर विजय करता है—'**तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्**' (१४। ७)। परन्तु तमोगुण स्वरूपसे ही विजय करता है। इसलिये तमोगुणमें 'संग' शब्द नहीं आया है।

'मैं सुखी हूँ'—यह सुखका संग है और 'मैं अच्छे कर्म करनेवाला हूँ, मेरे कर्म बड़े अच्छे हैं'—यह कर्मका संग है। संग करनेसे अर्थात् अपना सम्बन्ध जोड़नेसे ही मनुष्य बँधता है।

~~~

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ १०॥

भारत	=हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!	**सत्त्वम्**	=सत्त्वगुण	**रजः**	=रजोगुण (बढ़ता है)
		भवति	=बढ़ता है,	**तथा, एव**	=वैसे ही
रजः	=रजोगुण	**सत्त्वम्**	=सत्त्वगुण	**सत्त्वम्**	=सत्त्वगुण (और)
च	=और	**च**	=और	**रजः**	=रजोगुणको (दबाकर)
तमः	=तमोगुणको	**तमः**	=तमोगुणको (दबाकर)		
अभिभूय	=दबाकर			**तमः**	=तमोगुण (बढ़ता है)।

विशेष भाव—जो गुण बढ़ता है, उसकी मुख्यता हो जाती है और दूसरे गुणोंकी गौणता हो जाती है। यह गुणोंका स्वभाव है।

~~~

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ ११॥

यदा	=जब	**प्रकाशः**	=प्रकाश (स्वच्छता)	**इति**	=यह
अस्मिन्	=इस	**उत**	=और	**विद्यात्**	=जानना चाहिये (कि)
देहे	=मनुष्य-शरीरमें	**ज्ञानम्**	=विवेक		
सर्वद्वारेषु	=सब द्वारों (इन्द्रियों और अन्तःकरण)में	**उपजायते**	=प्रकट हो जाता है,	**सत्त्वम्**	=सत्त्वगुण
		तदा	=तब	**विवृद्धम्**	=बढ़ा हुआ है।

विशेष भाव—'प्रकाश' और 'ज्ञान' दोनोंमें भेद है। 'प्रकाश' का अर्थ है—इन्द्रियों और अन्तःकरणमें जागृति अर्थात् रजोगुणसे होनेवाले मनोराज्यका तथा तमोगुणसे होनेवाले निद्रा, आलस्य और प्रमादका न होकर स्वच्छता होना।

'ज्ञान' का अर्थ है—विवेक अर्थात् सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्य, नित्य-अनित्य, ग्राह्य-त्याज्य आदिका ज्ञान होना।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ १२॥

भरतर्षभ	= हे भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**लोभः**	= लोभ,	**अशमः**	= अशान्ति (और)
रजसि	= रजोगुणके	**प्रवृत्तिः**	= प्रवृत्ति,	**स्पृहा**	= स्पृहा—
विवृद्धे	= बढ़नेपर	**कर्मणाम्**	= कर्मोंका	**एतानि**	= ये वृत्तियाँ
		आरम्भः	= आरम्भ,	**जायन्ते**	= पैदा होती हैं।

विशेष भाव—रजोगुणके बढ़नेपर सत्त्वगुणके प्रकाश और ज्ञान दब जाते हैं। रजोगुण असंगताका विरोधी है—**'रजो रागात्मकं विद्धि'** (गीता १४। ७)। क्रिया और पदार्थका संग करनेके कारण यह मनुष्यको योगारूढ़ नहीं होने देता। कारण कि मनुष्य क्रिया और पदार्थसे असंग होनेपर ही योगारूढ़ होता है*।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ १३॥

कुरुनन्दन	= हे कुरुनन्दन!	**अप्रवृत्तिः**	= अप्रवृत्ति,	**मोहः**	= मोह
तमसि	= तमोगुणके	**च**	= तथा	**एतानि**	= —ये वृत्तियाँ
विवृद्धे	= बढ़नेपर	**प्रमादः**	= प्रमाद	**एव**	= भी
अप्रकाशः	= अप्रकाश,	**च**	= और	**जायन्ते**	= पैदा होती हैं।

विशेष भाव—अप्रकाश और अप्रवृत्ति तो सत्त्वगुण और रजोगुणके विरोधी हैं तथा प्रमाद और मोह तमोगुणके अपने हैं।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते॥ १४॥

यदा	= जिस समय	**तु**	= यदि	**उत्तमविदाम्**	= उत्तमवेत्ताओंके
सत्त्वे	= सत्त्वगुण	**देहभृत्**	= देहधारी मनुष्य	**अमलान्**	= निर्मल
प्रवृद्धे	= बढ़ा हो,	**प्रलयम्, याति**	= मर जाता है (तो वह)	**लोकान्**	= लोकोंमें
तदा	= उस समय			**प्रतिपद्यते**	= जाता है।

* **यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।**
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ (गीता ६। ४)

विशेष भाव—'तदोत्तमविदां लोकानमलान्'—विवेकवान् पुरुष उत्तमवेत्ता हैं। यदि सत्त्वगुणको अपना मानकर उसमें रमण न करे और भगवान्‌की सम्मुखता रहे तो सात्त्विक मनुष्य सत्त्वगुणसे भी असंग (गुणातीत) होकर भगवान्‌के परमधामको चला जायगा, अन्यथा सत्त्वगुणका सम्बन्ध रहनेपर वह ब्रह्मलोकतकके ऊँचे लोकोंको चला जायगा।

'अमलान्'—ब्रह्मलोकतकके लोकोंमें तो सापेक्ष निर्मलता है, पर भगवान्‌के परमधाममें निरपेक्ष निर्मलता है।

~~~

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥ १५॥

रजसि	= रजोगुणके बढ़नेपर	**जायते**	= जन्म लेता है	**प्रलीनः**	= मरनेवाला
प्रलयम्, गत्वा	= मरनेवाला प्राणी	**तथा**	= तथा	**मूढयोनिषु**	= मूढ़ योनियोंमें
कर्मसङ्गिषु	= कर्मसंगी मनुष्ययोनिमें	**तमसि**	= तमोगुणके बढ़नेपर	**जायते**	= जन्म लेता है।

विशेष भाव—रजोगुणमें 'राग'-अंश ही बाँधनेवाला, जन्म-मरण देनेवाला है, 'क्रिया'-अंश नहीं। राग होनेके कारण ही '**कर्मसङ्गिषु जायते**' कहा है। क्रियारूपसे रजोगुण तो गुणातीतमें भी होता है—'**प्रकाशं च प्रवृत्तिं च**' (गीता १४। २२)। पदार्थ, क्रिया अथवा व्यक्ति—किसीमें भी राग हो जायगा तो वह कर्मसंगी मनुष्ययोनिमें जन्म लेगा। मनुष्य स्वाभाविक कर्मसंगी है; क्योंकि कर्म करनेका अधिकार मनुष्ययोनिमें ही है—'**कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके**' (गीता १५। २)।

~~~

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ १६॥

विवेकी पुरुषोंने—

सुकृतस्य	= शुभ	**फलम्**	= फल	**तमसः**	= तामस कर्मका
कर्मणः	= कर्मका	**आहुः**	= कहा है,		
तु	= तो	**रजसः**	= राजस कर्मका	**फलम्**	= फल
सात्त्विकम्	= सात्त्विक	**फलम्**	= फल	**अज्ञानम्**	= अज्ञान (मूढ़ता) (कहा है)।
निर्मलम्	= निर्मल	**दुःखम्**	= दुःख (कहा है और)		

विशेष भाव—रजोगुणका स्वरूप राग है और उस रागके कारण ही दुःख होता है—'**रजसस्तु फलं दुःखम्**'। संसारके सभी दुःख और पाप रागके कारण ही होते हैं। रागके कारण ही काम पैदा होता है—'**काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः**' (गीता ३। ३७)।

'अज्ञानं तमसः फलम्'—तमोगुण ज्ञान, प्रकाश, विवेक नहीं होने देता; क्योंकि तमोगुण अज्ञानको उत्पन्न करनेवाला और अज्ञानसे ही उत्पन्न होनेवाला है (गीता १४। ८, १७)।

~~~
~~~

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥ १७॥

सत्त्वात्	=सत्त्वगुणसे	**एव**	=ही	**अज्ञानम्**	=अज्ञान
ज्ञानम्	=ज्ञान	**सञ्जायते**	=उत्पन्न होते हैं।	**एव**	=भी
च	=और	**तमसः**	=तमोगुणसे		
रजसः	=रजोगुणसे	**प्रमादमोहौ**	=प्रमाद, मोह	**भवतः**	=उत्पन्न होते हैं।
लोभः	=लोभ (आदि)	**च**	=एवं		

विशेष भाव—ज्ञान (विवेक) सत्त्वगुणसे प्रकट होता है और संग न करनेपर बढ़ते-बढ़ते तत्त्वबोधतक चला जाता है अर्थात् तत्त्वबोधमें परिणत हो जाता है। परन्तु लोभ, प्रमाद, मोह, अज्ञान बढ़ते हैं तो कोई नुकसान बाकी नहीं रहता, कोई दुःख बाकी नहीं रहता, कोई मूढ़योनि बाकी नहीं रहती, कोई नरक बाकी नहीं रहता।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ १८॥

सत्त्वस्थाः	=सत्त्वगुणमें स्थित मनुष्य	**मध्ये**	=मृत्युलोकमें	**तामसाः**	=तामस मनुष्य
		तिष्ठन्ति	=जन्म लेते हैं (और)		
ऊर्ध्वम्	=ऊर्ध्वलोकोंमें	**जघन्यगुण-वृत्तिस्थाः**	=निन्दनीय तमोगुण-की वृत्तिमें स्थित	**अधः**	=अधोगतिमें
गच्छन्ति	=जाते हैं,				
राजसाः	=रजोगुणमें स्थित मनुष्य			**गच्छन्ति**	=जाते हैं।

विशेष भाव—तमोगुण थोड़ा बढ़नेपर मनुष्य मूढ़ योनियोंमें जाता है और ज्यादा बढ़नेपर नरकोंमें जाता है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ १९॥

यदा	=जब	**कर्तारम्**	=कर्ता	**वेत्ति**	=अनुभव करता है, (तब)
द्रष्टा	=विवेकी (विचार-कुशल) मनुष्य	**न**	=नहीं		
		अनुपश्यति	=देखता	**सः**	=वह
गुणेभ्यः	=तीनों गुणोंके (सिवाय)	**च**	=और (अपनेको)	**मद्भावम्**	=मेरे सत्स्वरूपको
		गुणेभ्यः	=गुणोंसे	**अधिगच्छति**	= प्राप्त हो जाता है।
अन्यम्	=अन्य किसीको	**परम्**	=पर		

विशेष भाव—'गुणेभ्यश्च परं वेत्ति' का तात्पर्य है कि जिससे गुण प्रकाशित होते हैं, उस प्रकाशकमें अपनी स्थितिका अनुभव करना (गीता १३। ३१)।

'**मद्भावं सोऽधिगच्छति**' पदोंका अर्थ है कि वह मेरे भावको अर्थात् ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। इसी बातको दूसरे श्लोकमें '**मम साधर्म्यमागताः**' पदोंसे कहा गया है।

विवेकी साधक गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और अपनेको गुणोंसे अर्थात् क्रिया और पदार्थसे असंग अनुभव करता है। क्रिया और पदार्थसे असंग अनुभव करनेपर वह योगारूढ़ हो जाता है— '**यदा हि नेन्द्रियार्थेषु**......' (गीता ६। ४)। योगारूढ़ होनेसे शान्तिकी प्राप्ति होती है और उस शान्तिमें न अटकनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है।

~~~

गुणानेताननतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

देही	=देहधारी (विवेकी मनुष्य)	**त्रीन्**	=तीनों		दुःखोंसे
देहसमुद्भवान्	=देहको उत्पन्न करनेवाले	**गुणान्**	=गुणोंका	**विमुक्तः**	=रहित हुआ
एतान्	=इन	**अतीत्य**	=अतिक्रमण करके	**अमृतम्**	=अमरताका
		जन्ममृत्युजरादुःखैः	= जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थारूप	**अश्नुते**	=अनुभव करता है।

विशेष भाव—मनुष्यमात्रके भीतर यह भाव रहता है कि मैं बना रहूँ, कभी मरूँ नहीं। वह अमर रहना चाहता है। अमरताकी इस इच्छासे सिद्ध होता है कि वास्तवमें वह अमर है। अगर वह अमर न होता तो उसमें अमरताकी इच्छा भी नहीं होती। उदाहरणार्थ, भूख और प्यास लगती है तो इससे सिद्ध होता है कि ऐसी वस्तु (अन्न और जल) है, जिससे वह भूख-प्यास बुझ जाय। अगर अन्न-जल न होता तो भूख-प्यास भी नहीं लगती। अतः अमरता स्वतःसिद्ध है—'**भूतग्रामः स एवाय**......' (गीता ८। १९)। परन्तु स्वरूपसे अमर होते हुए भी जब मनुष्य अपने विवेकका तिरस्कार करके मरणधर्मा शरीरके साथ तादात्म्य मान लेता है अर्थात् 'मैं शरीर हूँ' ऐसा मान लेता है, तब उसमें मृत्युका भय और अमरताकी इच्छा पैदा हो जाती है। जब वह अपने विवेकको महत्त्व देता है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ; शरीर तो निरन्तर मृत्युमें रहता है और मैं स्वयं निरन्तर अमरतामें रहता हूँ', तब उसको अपनी स्वतःसिद्ध अमरताका अनुभव हो जाता है। शरीरके विकारोंका, परिवर्तनका अनुभव स्वयं सदा एक रहते हुए ही करता है। अतः साधकको चाहिये कि वह विकारोंको, परिवर्तनको मुख्यता न देकर अपने होनेपनको, अपनी अमरताको मुख्यता दे।

यह श्लोक चौदहवें अध्यायका सार, निचोड़ है।

~~~

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

अर्जुन बोले—

प्रभो	=हे प्रभो!	**गुणान्**	=गुणोंसे	**लिङ्गैः**	=लक्षणोंसे (युक्त)
एतान्	=इन	**अतीतः**	=अतीत हुआ मनुष्य		
त्रीन्	=तीनों	**कैः**	=किन	**भवति**	=होता है?

किमाचारः	=उसके आचरण कैसे होते हैं?	**एतान्**	=इन	**कथम्, अतिवर्तते**	=अतिक्रमण कैसे किया जा सकता है?
च	=और	**त्रीन्**	=तीनों		
		गुणान्	=गुणोंका		

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥ २२॥

श्रीभगवान् बोले—

पाण्डव	=हे पाण्डव!	**मोहम्**	=मोह—	**न, द्वेष्टि**	=इनसे द्वेष नहीं करता
प्रकाशम्	=प्रकाश	**सम्प्रवृत्तानि**	=(ये सभी) अच्छी तरहसे प्रवृत्त हो जायँ	**च**	=और
च	=और	**एव**	=तो भी (गुणातीत मनुष्य)	**निवृत्तानि**	=(ये सभी) निवृत्त हो जायँ तो (इनकी)
प्रवृत्तिम्	=प्रवृत्ति			**न, काङ्क्षति**	= इच्छा नहीं करता।
च	=तथा				

विशेष भाव—गुणातीत मनुष्यमें 'अनुकूलता बनी रहे, प्रतिकूलता चली जाय' ऐसी इच्छा नहीं होती। निर्विकारताका अनुभव होनेपर उसको अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान तो होता है, पर स्वयंपर उनका असर नहीं पड़ता। अन्तःकरणमें वृत्तियाँ बदलती हैं, पर स्वयं उनसे निर्लिप्त रहता है। साधकपर भी वृत्तियोंका असर नहीं पड़ना चाहिये; क्योंकि गुणातीत मनुष्य साधकका आदर्श होता है, साधक उसका अनुयायी होता है।

साधकमात्रके लिये यह आवश्यक है कि वह देहका धर्म अपनेमें न माने। वृत्तियाँ अन्तःकरणमें हैं, अपनेमें नहीं हैं। अतः साधक वृत्तियोंको न अच्छा माने, न बुरा माने और न अपनेमें माने। कारण कि वृत्तियाँ तो आने-जानेवाली हैं, पर स्वयं निरन्तर रहनेवाला है। अगर वृत्तियाँ हमारेमें होतीं तो जबतक हम रहते, तबतक वृत्तियाँ भी रहतीं। परन्तु यह सबका अनुभव है कि हम तो निरन्तर रहते हैं, पर वृत्तियाँ आती-जाती रहती हैं। वृत्तियोंका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ है और हमारा (स्वयंका) सम्बन्ध परमात्माके साथ है। इसलिये वृत्तियोंके परिवर्तनका अनुभव करनेवाला स्वयं एक ही रहता है।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ २३॥

यः	=जो		(तथा)	**यः**	=जो (अपने स्वरूपमें ही)
उदासीनवत्	=उदासीनकी तरह	**गुणाः**	=गुण		
आसीनः	=स्थित है (और)	**एव**	=ही (गुणोंमें)	**अवतिष्ठति**	=स्थित रहता है (और स्वयं कोई भी)
गुणैः	=(जो) गुणोंके द्वारा				
न, विचाल्यते	=विचलित नहीं किया जा सकता	**वर्तन्ते**	=बरत रहे हैं—	**न, इङ्गते**	=चेष्टा नहीं करता।
		इति	=इस भावसे		

विशेष भाव—'न विचाल्यते', 'अवतिष्ठति' और **'नेङ्गते'**—ये तीनों पद वास्तवमें एक ही अर्थ रखते हैं। फिर भी ये तीनों पद देनेका तात्पर्य है कि गुणातीत महापुरुष स्वतः-स्वाभाविक अचल (स्थिरतामें) रहता है।

वह न तो स्वयं विचलित होता है और न किसीसे विचलित किया जा सकता है।

'करना', 'होना' और 'है'—ये तीन विभाग हैं। 'करना' होनेमें और 'होना' 'है' में बदल जाय तो अहंकार सर्वथा नष्ट हो जाता है। जिसके अन्तःकरणमें क्रिया और पदार्थका महत्त्व है, ऐसा असाधक (संसारी मनुष्य) मानता है कि 'मैं क्रिया कर रहा हूँ'—'**अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७)। जो कर्ता बनता है, उसको भोक्ता बनना ही पड़ता है। जिसमें विवेककी प्रधानता है, ऐसा साधक अनुभव करता है कि 'क्रिया हो रही है'—'**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**' (गीता ३। २८) अर्थात् 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ'—'**नैव किञ्चित्करोमीति**' (गीता ५। ८)। परन्तु जिसको तत्त्वज्ञान हो गया है, ऐसा सिद्ध महापुरुष केवल सत्ता तथा ज्ञप्तिमात्र ('है') का ही अनुभव करता है—'**योऽवतिष्ठति नेङ्गते**'। वह चिन्मय सत्ता सम्पूर्ण क्रियाओंमें ज्यों-की-त्यों परिपूर्ण है। क्रियाओंका तो अन्त हो जाता है, पर चिन्मय सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। महापुरुषकी दृष्टि क्रियाओंपर न रहकर स्वतः एकमात्र चिन्मय सत्ता ('है') पर ही रहती है।

~~~

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ २४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ २५॥

धीरः	=जो धीर मनुष्य	**तुल्यप्रियाप्रियः**	=जो प्रिय-अप्रियमें सम रहता है,		पक्षमें
समदुःखसुखः	=दुःख-सुखमें सम (तथा)	**तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः**	=जो अपनी निन्दा-स्तुतिमें सम रहता है;	**तुल्यः**	=सम रहता है (और)
स्वस्थः	=अपने स्वरूपमें स्थित रहता है;	**मानापमानयोः**	=जो मान-अपमानमें	**सर्वारम्भपरित्यागी**	=जो सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भका त्यागी है,
समलोष्टाश्मकाञ्चनः	=जो मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेमें सम रहता है;	**तुल्यः**	=सम रहता है;	**सः**	=वह मनुष्य
		मित्रारिपक्षयोः	=जो मित्र-शत्रुके	**गुणातीतः**	=गुणातीत
				उच्यते	=कहा जाता है।

विशेष भाव—राग-द्वेषादि विकार न जड़में रहते हैं, न चेतनमें रहते हैं और न ये अन्तःकरणके धर्म हैं, प्रत्युत ये देहाभिमानमें रहते हैं। देहाभिमान भी वास्तवमें है नहीं, प्रत्युत अविवेक-अविचारपूर्वक माना हुआ है। तात्पर्य है कि वास्तवमें विकार अपनेमें नहीं हैं, पर मनुष्य अविवेकके कारण अपनेमें मान लेता है। वह विकारोंके भाव और अभावका तथा स्वयंके भावका अनुभव तो करता है, पर इस अनुभवको महत्त्व नहीं देता। अगर वह विवेक-विचारपूर्वक अपनेमें विकारोंके अभावका अनुभव कर ले तो वह उनका भोक्ता (सुखी-दुःखी) नहीं बनेगा।

~~~

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ २६॥

च	=और	**माम्**	=मेरा	**गुणान्**	=गुणोंका
यः	=जो मनुष्य	**सेवते**	=सेवन करता है,	**समतीत्य**	=अतिक्रमण करके
अव्यभिचारेण	=अव्यभिचारी	**सः**	=वह	**ब्रह्मभूयाय**	=ब्रह्मप्राप्तिका
भक्तियोगेन	=भक्तियोगके द्वारा	**एतान्**	=इन	**कल्पते**	=पात्र हो जाता है।

विशेष भाव— भक्तिसे साधक जो भी चाहता है, उसीकी प्राप्ति हो जाती है। जो साधक मुख्यरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति अर्थात् मुक्ति, तत्त्वज्ञान चाहता है, उसको भक्ति करनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि ब्रह्मकी प्रतिष्ठा भगवान् ही हैं (गीता १४। २७), ब्रह्म समग्र भगवान्का ही एक अंग है, स्वरूप है (गीता ७। २९-३०)। तेरहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भी भक्तिको ज्ञानप्राप्तिका साधन बताया गया है।

श्रीमद्भागवतमें सगुणकी उपासनाको निर्गुण (गुणोंसे अतीत) बताया है; जैसे—**'मन्निकेतं तु निर्गुणम्'** (११। २५। २५), **'मत्सेवायां तु निर्गुणा'** (११। २५। २७) आदि। इसलिये सगुणकी उपासना करनेवाला तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है। सगुण भगवान् भी गुणोंके आश्रित नहीं हैं, प्रत्युत गुण उनके आश्रित हैं। जो सत्त्व-रज-तम गुणोंके वशमें है, उसका नाम 'सगुण' नहीं है, प्रत्युत जिसमें असीम ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि अनन्त दिव्य गुण नित्य विद्यमान रहते हैं, उसका नाम 'सगुण' है। भगवान्के द्वारा सात्त्विक, राजस अथवा तामस क्रियाएँ हो सकती हैं, पर वे उन गुणोंके वशमें नहीं होते।

भगवान्की तरफ चलनेसे भक्त स्वत: और सुगमतासे गुणातीत हो जाता है। इतना ही नहीं, उसको भगवान्के समग्र रूपका भी ज्ञान हो जाता है।

~~~

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ २७॥

हि	= क्योंकि	**च**	= तथा	**सुखस्य**	= सुखका
ब्रह्मण:	= ब्रह्मका	**शाश्वतस्य**	= शाश्वत	**प्रतिष्ठा**	= आश्रय
च	= और	**धर्मस्य**	= धर्मका		
अव्ययस्य	= अविनाशी	**च**	= और	**अहम्**	= मैं
अमृतस्य	= अमृतका	**ऐकान्तिकस्य**	= ऐकान्तिक		(ही हूँ)।

विशेष भाव— 'ब्रह्म तथा अविनाशी अमृतका आश्रय मैं हूँ'—यह निर्गुण-निराकारकी तथा ज्ञानयोगकी बात है, 'शाश्वतधर्मका आश्रय मैं हूँ'—यह सगुण-साकारकी तथा कर्मयोगकी बात है और 'ऐकान्तिक सुखका आश्रय मैं हूँ'—यह सगुण-निराकारकी तथा ध्यानयोगकी बात है। तात्पर्य यह हुआ कि मेरी (सगुण-साकारकी) उपासना करनेसे, मेरा आश्रय लेनेसे ज्ञानयोग, कर्मयोग और ध्यानयोग—तीनों सिद्ध हो जाते हैं। तीनोंसे एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है, जिसको 'समग्र' कहते हैं।

जितनी भी विभूतियाँ हैं, वे सब भगवान्के ऐश्वर्य हैं। ब्रह्म भी भगवान्की एक विभूति है, ऐश्वर्य है। इसलिये यहाँ भगवान्ने कहा है—**'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'**। पद्मपुराणमें आया है कि भगवान् श्रीकृष्णके ही नखकी एक किरण 'ब्रह्म' है—

यन्नखेन्दुरुचिर्ब्रह्म ध्येयं ब्रह्मादिभि: सुरै:।
गुणत्रयमतीतं तं वन्दे वृन्दावनेश्वरम्॥

(पाताल० ७७। ६०)

'(भगवान् शंकर कहते हैं—) जिनके नखचन्द्रकी कान्तिरूप ब्रह्मका देवतागण ध्यान करते हैं, उन त्रिगुणातीत वृन्दावनेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ।'

~~~

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्याय:॥ १४॥

~~~
~~~